International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 08-10-2022, Accepted: 24-10-2022, Published: 10-11-2022
Volume 8, Issue 6, 2022, Page No. 3-5

डार से बिछुड़ीः नारी अस्मिता का दुर्लभ सत्य

कंचन सिंह
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
साहित्य में स्त्री–विमर्श को उत्तर आधुनिकता का परिणाम माना जाता है। सामान्यतया स्त्री–विमर्श का अभिप्राय केवल स्त्री की मुक्ति या पुरुष की बराबरी से लिया जाता है परन्तु इसके विपरीत यह शब्द अत्यन्त गहन अर्थ रखता है और नारी मुक्ति के साथ–साथ नारी अस्मिता, चेतना व स्वाभिमान को भी स्वयं में समाविष्ट किये हुए है। समाज की आधी आबादी होने के बावजूद भी स्त्री अपना मनोचित सम्मान प्राप्त कर सकने में असमर्थ रही है। उसे सदैव ही अपने स्त्रीत्व की कीमत चुकानी पड़ी है। जीवन के हर पड़ाव पर उसे एक नया संघर्ष मिला और चुपचाप सह जाना ही उसकी नियति बन गयी। आज भले ही नारी हर क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा रही है परन्तु आज भी न जाने कितनी बार उसे अपनी अस्मिता से समझौता करना पड़ता है। कृष्णा सोबती के साहित्य में भी स्त्री–अस्मिता का सशक्त चित्रण मिलता है। इसी क्रम में उनका उपन्यास ''डार से बिछुड़ी'' भी उनकी रचनाशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसके अन्तर्गत वे नारी की सहज–सुलभ मनोकामनाओं के साथ उसकी अस्मिता के दुर्लभ सत्य को सहजता से उजागर करती हैं। प्रस्तुत उपन्यास ''डार से बिछुड़ी'' में सोबती जी नारी–अस्मिता का प्रश्न उठाते हुए, अपने कथ्य से यही दर्शाना चाहती है कि स्त्री, जीवनयापन हेतु दूसरों पर निर्भर क्यों हैं ? आखिर स्त्री स्वयं का जीवन दूसरों के लिए क्यूँ जीती है? यह उसकी स्वेच्छा है अथवा विवशता? वह क्यूँ अपने सपनों को, अपनी महत्वाकांक्षाओं को, नारी मन की सहज कल्पनाओं को साकार रूप देने में असमर्थ है ? क्या बस इसी कारण, क्यूँ कि वह एक स्त्री है ? यही प्रश्न सम्पूर्ण उपन्यास में हमारे मन को कचोटते रहते हैं।

मूल शब्दः स्त्री विमर्श, उत्तर आधुनिकता, अस्मिता, विभाजन, त्रासदी, मर्यादा, महत्वाकांक्षा

प्रस्तावना
भारतीय–समाज में नारी सदैव चिन्तन का विषय रही है तथा प्राचीनकाल से ही नारी को साहित्य में स्थान मिलता रहा है। साहित्य में नारी विषयक चिन्तन को स्त्री–विमर्श का नाम दिया गया है, जिसका तात्पर्य एक मानवीय अस्तित्व के रूप में स्त्री की पहचान, सम्मान, बराबरी और अधिकार के सवालों से है। साहित्य में स्त्री–विमर्श को उत्तर आधुनिकता का परिणाम माना जाता है। सामान्यतया स्त्री–विमर्श का अभिप्राय केवल स्त्री की मुक्ति या पुरुष की बराबरी से लिया जाता है परन्तु इसके विपरीत यह शब्द अत्यन्त गहन अर्थ रखता है और नारी मुक्ति के साथ–साथ नारी अस्मिता, चेतना व स्वाभिमान को भी स्वयं में समाविष्ट किये हुए है। ''वास्तव में स्त्री–विमर्श स्त्री की अस्मिता और उसकी चेतना के आंकलन का दूसरा रूप है।''[1] वर्तमान में स्त्री–चिन्तन की बागडोर स्वयं महिला लेखिकाओं के हाथ में आने से यह विमर्श और भी मुखरित हो उठा है। नारी–विमर्श के क्षेत्र में मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, ऊषा प्रियंवदा, नासिरा शर्मा, नमिता सिंह, प्रभाखेतान, मृदुला गर्ग, मन्नू भण्डारी, कृष्णा अग्निहोत्री व अमृता प्रीतम और न जाने कितने अनगिनत नाम प्रमुखता से जुड़े हुए हैं। इस क्षेत्र में उपरोक्त लेखिकाओं के अतिरिक्त कृष्णा सोबती का नाम भी विशेष स्थान रखता है, जिन्होंने विविध सामाजिक–राजनीतिक घटनाक्रमों में नारी–अस्मिता के विरले दृश्यों को अपनी लेखनी के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

समाज की आधी आबादी होने के बावजूद भी स्त्री अपना मनोचित सम्मान प्राप्त कर सकने में असमर्थ रही है। उसे सदैव ही अपने स्त्रीत्व की कीमत चुकानी पड़ी है। जीवन के हर पड़ाव पर उसे एक नया संघर्ष मिला और चुपचाप सह जाना ही उसकी नियति बन गयी। आज भले ही नारी हर क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा रही है परन्तु आज भी न जाने कितनी बार उसे अपनी अस्मिता से समझौता करना पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि नारी को सदैव भोग की वस्तु ही समझा गया है और जब भी नारी अस्मिता की बावत प्रश्न उठे उसे नारी–देह से ही जोड़कर देखा गया। परन्तु क्या वास्तव में नारी–अस्मिता का सम्बन्ध केवल स्त्री–देह से ही है? कदाचित नहीं, क्योंकि अस्मिता केवल देह की ही नहीं अपितु नारी से जुड़े उन सभी पक्षों की हिदायत करती है, जो नारी के अस्तित्व को सही पहचान दिला सकने में समर्थ है। कृष्णा सोबती के साहित्य में भी स्त्री–अस्मिता का सशक्त चित्रण मिलता है।

कृष्णा सोबती, जिन्होंने स्वयं इतिहास को जिया है, उनका विराट अनुभव उनके लेखन में स्पष्ट झलकता है। सोबती जी ने देश–विभाजन व राष्ट्र–निर्माण दोनों दृश्यों को स्वजीवन में देखा है। वे जानती हैं कि विभाजन का दर्द क्या होता है ? समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है और विशेषकर स्त्रियों को इसकी क्या कीमत चुकानी पड़ती है। वे स्वयं इन घटनाक्रमों की गवाह रही हैं और समझती हैं कि साहित्य में स्वाभाविकता कितनी आवश्यक है और यह केवल लेखक की भावात्मक सजगता तथा अन्तर्दृष्टि से ही सम्भव है। इसी कारण उनका लेखन सदैव वक्त से आगे रहा है। उनके सभी उपन्यास चाहे वह 'मित्रों–मरजानी' हो, 'जिन्दगीनामा' हो, 'सूरजमुखी अन्धेरे के' हो, 'दिलोदानिश' या 'सरगम' हो अथवा 'डार से बिछुड़ी' हो, सभी में उनका लेखन, उनके कथ्य को अप्रतिम ताजगी व स्फूर्ति प्रदान करता है। वे किसी रचना के लिए स्वयं को तब तक तैयार नहीं मानतीं जब तक उन्हें उसके सन्दर्भ में सम्पूर्ण जानकारी न हो। वे गहरी तह तक जाकर अपनी रचनाओं का कथ्य तलाशती है। इसी क्रम में उनका उपन्यास ''डार से बिछुड़ी'' भी उनकी रचनाशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसके अन्तर्गत वे नारी की सहज–सुलभ मनोकामनाओं के साथ उसकी अस्मिता के दुर्लभ सत्य को सहजता से उजागर करती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास ''डार से बिछुड़ी'' में सोबती जी नारी–अस्मिता का प्रश्न उठाते हुए, अपने कथ्य से यही दर्शाना चाहती है कि स्त्री, जीवनयापन हेतु दूसरों पर निर्भर क्यों हैं ? आखिर स्त्री स्वयं का जीवन दूसरों के लिए क्यूँ जीती है? यह उसकी स्वेच्छा

है अथवा विवशता? वह क्यूँ अपने सपनों को, अपनी महत्वाकांक्षाओं को, नारी मन की सहज कल्पनाओं को साकार रूप देने में असमर्थ है ? क्या बस इसी कारण, क्यूँ कि वह एक स्त्री है ? यही प्रश्न सम्पूर्ण उपन्यास में हमारे मन को कचोटते रहते हैं। वास्तव में नारी सदैव ही दूसरों के लिए जीती आयी है और जब–जब उसने स्वयं के विषय में सोचा, उसे भयानक त्रासदियों का सामना करना पड़ा। विवेचित उपन्यास में न केवल नारी के त्रासद–जीवन का जीवन्त दृश्य उभरता है, अपितु एक विरोधाभास भी झलकता है कि कैसे एक स्त्री विकटतम परिस्थितियों में मानसिक यातनाओं को झेलते हुये भी आने वाले कल के प्रति आशान्वित होती है। यह नारी के धैर्य व आत्मबल को प्रकट करता है।

उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' की प्रमुख पात्र 'पाशो' है। वह एक किशोरी है; जिसकी माँ विधवा होने के बाद शेखों की हवेली चढ़ जाती है, जिसका प्रभाव पाशों के जीवन पर भी पड़ता है। वह एक अल्हड़ किशोरी है ''जिसके पास न शिक्षा थी न विद्या थी, न पिता की छाँह, न विधवा माँ की मान–मर्यादा, और न परिवार की सुरक्षा।''[2] इस प्रकार जन्म से पाशो का जीवन विडम्बनाओं से परिपूर्ण रहा और लेखिका ने इसे केवल आकस्मिक रूप प्रदान न करते हुए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी उल्लेख किया है। सोबती जी ने उपन्यास की पृष्ठभूमि में सिक्ख व अंग्रेजों के बीच हुए अन्तिम घमासान अर्थात् 1849 के युद्ध का विवरण दिया है, जिसमें भले ही पाशो की कोई भूमिका न रही हो, परन्तु वह युद्ध पाशो के जीवन में अनिवार्य रूप से सम्मिलित था। पाशो अपनी आँखो से एक युद्ध को प्रत्यक्ष रूप से देखती रही, तो वही एक लडाई उसके स्वयं के जीवन में भी चलती रही जिसे उसने बाह्य व आन्तरिक दोनों प्रकार से लड़ा।

सोबती जी ने प्रस्तुत उपन्यास में पाशो के जीवन–संघर्ष के द्वारा यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि स्त्री का परिवार व समाज उसका सुरखा कवच माना जाता है, भले ही इस कवच में स्त्री घुटन महसूस करती हो, परन्तु इस कवच से बाहर उसका जीवन डार से बिछड़े पक्षी के समान ही होता है। समाज, ऐसी स्त्रियों के अस्तित्व को कभी स्वीकार नहीं करता। इस सन्दर्भ में ''नारी की भीतरी घुटन, छटपटाहट और पीड़ा को समझने की उदारता किसी ने नहीं की बल्कि अपने स्वार्थ हेतु उसके मानवीय सौन्दर्य को नजर अंदाज कर, उसके अधिकारों को जाति, धर्म और संस्कृति की कब्र में दफन कर दिया गया।''[3] पाशो के जीवन में भी ऐसा ही हुआ। उपनयास में पाशो की विधवा माँ शेखों की हवेली चढ़ जाती है जिससे मिलने की ललक में, उसकी एक झलक पाने की लालसा में पाशो शेखों की हवेली तक पहुँच जाती है। इस प्रकार ''रात के अंधेरे में घर की देहरी से बाहर पाँव रखा और हर कदम दूर होती चली गयी पाशो, अपनों और परायों से। आकाश में उडते पाखियों की डारों से अलग हुए पंक्षी की तरह।''[4]

भारतीय समाज में सामाजिकता व लोक–लाज को वहन करने का जिम्मा केवल स्त्रियों के कन्धों पर ही डाल दिया जाता है, भले ही इस बोझ के तले महिलाओं के सपने, उनकी कल्पनायें व नारी सुलभ महत्वाकांक्षायें दब कर रह जायें। 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास भी इसी सत्य को स्पष्ट करता है। उपन्यास में पाशो, अपनी माँ के कृत्य में तनिक भी सहयोगी नहीं रहती परन्तु परिवार व समाज उसे इस सन्दर्भ में उलाहना देने से नहीं चूकता। उसे पल–पल यह एहसास कराया जाता है कि उसकी माँ, कुल का कलंक थी और वह उस कुलबोरनी की बेटी है। उसकी माँ के जीवन का सत्य जो भी रहा हो परन्तु उसके लिए पाशो को दोषी मानना कहाँ तक उचित है। पाशो को समाज व परिवार सन्देह की दृष्टि से देखता है, लोग कहते, ''माँ ही जब विधर्मी बैरियों के घर जा बैठी तो बेटी का क्या भरोसा। जहर दे देना चाहिए कुलच्छिनी को या फिर दरिया में डुबा देना चाहिए।''[5]

पाशो, जिसका बचपन माँ के अभाव में बीता, जिसने कभी पिता का प्यार नहीं पाया और शेष जीवन भी संघर्ष में ही बीतता है, उसे देखकर अनायास ही मन में एक प्रश्न उठता है कि स्त्रियों को अभिव्यक्ति का समान अधिकार क्यों नहीं है? तनिक सी चंचलता उसके चरित्र पर सवाल क्यों खड़े कर देती है ? उपन्यास में पाशो को भी इस समस्या से दो चार होना पड़ता है। हर क्षण उसके कन्धों पर लोक–लाज का भार लादा जाता है जिसे वहन कर सकने में उसका किशोर–मन असमर्थ है। उसे लोक–लाज का वास्ता देते हुए ''नानी ने भी एक दिन कहा ही था–सँभलकर री, एक बार का थिरका पाँव जिन्दगानी धूल में मिला देगा।''[6]

सोबती जी ने पाशो के रूप में नारी–मन की चंचलता को सौम्य रूप प्रदान किया है परन्तु यही चंचलता पाशो की त्रासदी का कारण बन जाती है। पाशो की चंचलता व किशोरावस्था के सहज प्रभावों की आड़ में, कृष्णा जी नारी–अस्मिता के सत्यों को ढूँढती हुयी नारी–मन के उस कोने में पहुँचती हैं, जहाँ तमाम अँधेरे में भी आशा की एक छोटी सी किरन जगमगाती रहती है। अपने–बेगानों के तानों–उलाहनों को सहती पाशो में किशोरावस्था के चंचलपन व सौन्दर्य का अद्‌भुत समन्वय है। उसका तन–मन कैशोर्य से परिपूर्ण है– ''भरे उठान अकड़कर, आँखों से रंगीन डोरे बिखेरते राह से चली जाती। ठहरने को न कपड़ा ठहरता न नजर! और बाँहें प्यासी गलबहियों सी हर अँगड़ाई के संग उठती, खिलतीं और अपने में सिमट जातीं।''[7] पाशो में किशोर मन की उत्सुकुता है। परिवार व समाज के लाख ताने देने पर भी उसका अपनी माँ के प्रति झुकाव कम नहीं होता। एक पल को तो वह मान लेती परन्तु अगले ही पल उसका मन उत्सुकुता से भर उठता। माँ से दूर रहकर भी उसकी सोच माँ से जुड़ी रही। दुनिया भले ही उसकी माँ को कोसती रही हो, पर वह तो अपनी माँ के भव्य व्यक्तित्व की रूपरेखा को अपने मानस पर अंकित करती रही थी। यहाँ नारी–अस्मिता का एक और सत्य उद्‌घाटित होता है कि समाज की कर्कशता में भी नारी–मन अपने सपनों को, कल्पनाओं में ही सही पर जीवन्त बनाये रखता है, संजोये रखता है। इस धारणा को सही साबित करती हुई पाशो ''शाह आलमी से जब तिल्लेवाली नोकदार जूती पहने, फुम्मनियोंवाला लम्बा पराँदा, डुलाते निकलती तो आवाजें सुन–सुन मुस्कुराती। माँ क्या मुझसे कम रही होंगी। खोजों के घर पर रानी बनकर बैठकर जाने वाली नानी की बेटी कैसी लगती होगी ? बार–बार सोचती और सोच–सोचकर और भी इठलाती। चाहती, किसी दिन चुपके से खोजों की हवेली जाऊँ और किसी झरोखे से अपनी माँ कहलाने वाली की एक झलक तो पाऊँ।''[8]

उपन्यास में पाशो नानी–मामी के वाक्य–दंशों को झेलती हुई अपने अस्तित्व को बचाए रखने का प्रयास करती है। यहाँ हम देखते हैं कि ''समाज में नारी की दोयम स्थिति है। वह पुरुष वर्ग से तो प्रताडित होती ही है, सहवर्गीय नारियाँ भी परम्पराओं की आड में उसे लांछनों, व्यंग्य–बाणों से बेधने से नहीं चूकती।''[9] यही कारण है कि पाशो की नानी उसे ताना देती हुई कहती है'' अरी कुएँ में डूब मरी थी, तेरा बीज डालने वाली। अब तू संभल कर साँस भर....।''[10] मामियों कडुवी बातें पाशो के कोमल मन को छन्न से तोड देतीं। उनकी लानतें–फटकारें जैसे पाशो का भाग्य बन गयी थीं।

नारी अस्मिता की बात करते हुए कृष्णा जी स्त्री के सशक्त व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालती हैं। उनके नारी–पात्र सशक्त दिखाई पडते हैं और समयानुकूल, स्वयं को परिवर्तित करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में कृष्णा जी के स्त्री–पात्र कठिनाईयों में भी सरलता से प्रवाहित होने का भरसक प्रयत्न करते है। इस प्रकार कृष्णा जी अपने स्त्री–पात्रों के माध्यम से महिलाओं में आत्मबल का संचार करती हैं। पाशो भी उन्हीं स्त्री–पात्रों में से एक है। सोबती जी, पाशो के रूप में जीवटता से परिपूर्ण स्त्री के जीवन

के पल–पल बदलते पहलुओं को अन्तः तक छूती नजर आती है। वे एक शाश्वत दृष्टिकोण रखती है, और मर–खप जाने को अन्तिम विकल्प नहीं मानती हैं। यही जीवटता पाशो के चरित्र को मजबूरी में भी मजबूती प्रदान करती है।

कृष्णा जी कथ्य के सम्बन्ध में सतर्कता अपनाती है, उनके इस उपन्यास का शीर्षक भी कथ्य की सार्थकता सिद्ध करता प्रतीत होता है। ''डार से बिछुडी'' अर्थात् वह पंछी या व्यक्ति जिससे उसका मूलभूत आसरा छिन गया हो। प्रस्तुत उपन्यास में नारी–अस्मिता को गम्भीर रूप से प्रभावित करने वाला यह सत्य प्रकट होता है कि स्त्री–जीवन का सुखमय होना पुरुषों पर निर्भर है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र पाशो, जिसके जीवन में सदैव कुछ न कुछ त्रासद घटता ही रहता है और वह अपनी हर खुशी को प्राप्त करने के लिए किसी न किसी पुरुष की मोहताज बन जाती है। उपन्यास के पार्श्व में अंग्रेजों एवं सिक्खों के युद्ध का वर्णन भी नारी जाति के इस सच को प्रकाशित करता है कि युद्ध किस प्रकार आम आदमी, खासकर औरतों के जीवन को और अधिक दुःखदायी बना देता है। युद्ध के दौरान स्त्रियों की विवशता को मजबूती से प्रस्तुत करता हुआ यह उपन्यास बतलाता है कि ऐसे हालातों में किसी भी देश की स्त्रियों को किन–किन परिस्थितियों से होकर गुजरना पडता है। घर के पुरुषों के युद्ध में जाने के बाद जो विषमताएँ उत्पन्न होती है, उनका सामना कर पाना महिलाओं के लिए कितना दुरुह होता है। यूँ तो हर जगह पुरूष के लिए स्त्री की आवश्यकता का विवरण दिया जाता है परन्तु कृष्णा जी यहाँ स्त्रियों के लिए पुरूषों की आवश्यकता पर बात करती है। वे स्पष्ट करती है कि भले ही स्त्रियाँ अपार आत्मबल की स्वामिनी होती है, परन्तु पुरुषों का अभाव उन्हें असहाय बना देता है। वे समाज से लड़ने का साहस भी रखती हैं, परन्तु उनकी कोमलता उनकी बेड़ी बन जाती है। पाशो भी इस समस्या का सामना करती है। जब लाला का बेटा युद्ध में हिस्सा लेने जाता है तब पाशो के जीवन पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि पुरूष के अभाव में स्त्रियाँ कितनी अनैतिकतायें झेलती हैं। जब दीवान जी की मृत्यु हो जाती है तब उनका छोटा भाई बरकत, पाशो पर बुरी दृष्टि रखता है तथा इस सब में उसकी माँ एक स्त्री होकर भी उसका साथ देती है। यहाँ भी दिखाई देता है कि पति–रूपी पुरुष के न होने पर विधवा स्त्री का अस्तित्व स्वतंत्रतापूर्वक श्वाँस नहीं ले सकता। यहाँ पाशो को एक ऐसी नायिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो सिर्फ करने को मजबूर है। उसकी चाहत या इनकार का कोई महत्व नहीं। कमोबेश प्रत्येक स्त्री को इस समस्या से गुजरना पड़ता है।

पाशो, जब सामाजिकता को लांघती, अपनी माँ से मिलने शेखों की हवेली की ओर कदम बढाती है, तभी से उसके जीवन में संघर्ष का प्रारम्भ हो जाता है। एक छोटा सा कदम उसके जीवन की गति बदल देता है और इसके बाद तो पाशो के जीवन में अंधियारा ही अंधियारा छा जाता है। रोशनी की कोई किरण झलकती भी है तो पलक झपकते ही गायब हो जाती है। उसके बाद एक के बाद एक हादसे उसके साथ घटित होते जाते हैं। शेखों द्वारा उसे दीवान जी के यहाँ भिजवाना, वहाँ दीवान जी की मृत्यु के बाद बरकत और उसके बाद लाला और उसके तीन बेटे और पाशो का नया वीर, न जाने किन–किन गलियों से गुजरकर पाशो अपना जीवन–सफर तय करती है। इस सम्पूर्ण यात्रा में कई क्षण ऐसे भी आते हैं कि पाशो जीवन से छुटकारा पाने की सोचती है, जमाना दुश्मन नजर आता है और वह सर्वनाश की दुआ माँगती है। पर अगले ही पल नारी–मन की स्वाभाविकता या यूँ कहिए ह्रदय की विशालता, सभी के कल्याण की कामना करने लगती है–''जिएँ! जागें! सब जिएँ जागें। अच्छे, बुरे, अपने पराए–जो भी मेरे कुछ लगते थे सब जिएँ। घड़ी भर पहले चाहती थी कि कहूँ सब मर–खप जाऐं न कोई जिए न जागे। मैं मरूँ तो सबको ले मरूँ। इस अभागी के ही जीने के लेख बिसर गये तो कोई और क्यों जिए? क्यों जागे? पर कौन होती थी मैं अपने दुर्भाग्य से हरी–भरी बेलों को जला देने वाली।''[11] इस प्रकार सहना और भूल जाना ही नारी का नसीब है और बावजूद इसके सभी के लिए दुआ माँगना स्त्री के लिए ही सम्भव है।

अन्ततः 'डार से बिछुडी' उपन्यास में हम नारी–अस्मिता के दुर्लभ सत्य को खोजते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कृष्णा सोबती जी प्रस्तुत उपन्यास की नायिका पाशो के संघर्षमय जीवन द्वारा प्रत्येक स्त्री को असल जिन्दगी का आइना दिखाती है।

सन्दर्भ सूची

1. सं0–योगेन्द्र दत्त शर्मा, आजकल पत्रिका, मई 2008, आजकल–प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृ0–38
2. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1958, पृ0–ग्प्प्
3. सं0–प्रो0 दिलशाद जीलानी, वितस्ता, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर, सं0–2013–14, पृ0–75
4. कृष्णा सोबती, डार से बिछुडी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1958, पृ0–ग्प्प्
5. वही।
6. वही।
7. वही, पृ0 16
8. वही।
9. सं0 डॉ0 वीरेन्द्र नारायण यादव, हिन्दी अनुशीलन, त्रैमासिक मुख–पत्र संयुक्तांक जून– दिसम्बर 2006, पृ0–45
10. कृष्णा सोबती, डार से बिछुडी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1958, पृ0–17
11. वही, पृ0–15